

## चतुर्थ अध्याय : रसखान के काव्य का काव्य शास्त्रीय मूल्यांकन

**पृष्ठ भूमि :** भारतीय आलोचना का विकास काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों में हुआ है। काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय भावपक्ष एवं कलापक्ष के अनुशीलन का आधार प्रस्तुत करते हैं ये सम्प्रदाय है रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य। इसमें रस एवं ध्वनि सम्प्रदाय का सम्बन्ध काव्य की संवेदना से है रीति एवं वक्रोक्ति का भाषा की संरचना से है। अलंकार भाषा सौन्दर्य के वर्द्धक तत्व हैं। औचित्य, सम्प्रदायों के औचित्य का अध्ययन है वस्तुतः काव्य-सम्प्रदाय, काव्य शास्त्रीय अध्ययन के आधार हैं।

अलंकार-शास्त्र के ग्रंथों के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। अलंकारिकों के सामने प्रधान विषय था काव्य की आत्मा का विवेचन। वह कौन-सी वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है? वह कौन-सा पदार्थ है जो काव्य के अंगों में सबसे अधिक उपादेय और महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रश्न के उत्तर में नाना सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलंकारों को ही काव्य का प्राण मानते हैं, कुछ गुण या रीति को और दूसरे लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा की समीक्षा में भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों में नये-नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई। 'अलंकार सर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन विभिन्न सम्प्रदायों के उदय का जो कारण बतलाया है वह बहुत ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से संभव हो सकती है-

(1) धर्म से

(2) व्यापार से

(3) व्यंग्य से

धर्म दो प्रकार के होते हैं - (1) नित्य और (2) अनित्य। अनित्य धर्म की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नहीं होती जितनी नित्य धर्म की। अनित्य धर्म है अलंकार और नित्य धर्म का नाम है गुण। इस प्रकार धर्ममूलक विशिष्टता को प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए-(1) अलंकार सम्प्रदाय (2) रीति या गुण सम्प्रदाय।

व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है (1) वक्रोक्ति, (2) भोजकत्व। वक्रोक्ति उक्ति-वैचित्य का ही दूसरा नाम है और वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार मानने वाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की

कल्पना रस—निरूपण के अवसर पर भट्टनायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर आचार्य भरत के रस सम्प्रदाय के भीतर ही अन्तर्भुक्त मानना उचित है। शब्दार्थ में व्यंग्यमूलक वैशिष्ट्य मानने वाले आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के आरम्भ में ध्वनिविरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है जो उनमें प्राचीन है तथा काव्य में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानने के विरोधी हैं। इन तीनों सम्प्रदायों के नाम हैं—(1) अभावभावी (2) भक्तिवादी और (3) अनिर्वचनीयतावादी। अलंकारसर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने अपनी 'विमर्शिणी' में ध्वनि की बारह विप्रतिपत्तियों का निर्देश किया है जिनमें ध्वनि का विरोध माना जाता है। इन सबका अन्तर्भाव कर आनन्दवर्धन मुख्यतया तीन ही ध्वनि—विरोधी पक्ष मानते हैं। इनका खण्डन कर उन्होंने 'ध्वनि' की पृथक स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की है।

'संस्कृत आलोचना' के मुख्यतः छः सम्प्रदाय होते हैं<sup>1</sup>—

	सम्प्रदाय	आचार्य
1.	रस सम्प्रदाय	भरतमुनि
2.	अलंकार सम्प्रदाय	भामह
3.	रीति सम्प्रदाय	वामन
4.	वकोक्ति सिद्धान्त	कुन्तक
5.	ध्वनि सम्प्रदाय	आनन्दवर्धन
6.	औचित्य सिद्धान्त	क्षेमेन्द्र

### 1. रस सम्प्रदाय

राजशेखर के कथनानुसार रस सम्प्रदाय के आदिम आचार्य **नन्दिकेश्वर** हैं, परन्तु आजकल न इनका कोई ग्रन्थ ही मिलता है, न इनके मत का ही परिचय मिलता है। भरतमुनि ही इस सम्प्रदाय के आजकल प्रतिष्ठाता माने जाते हैं और

1. आवलदेव उपाध्याय : संस्कृत आलोचना पृ0 274

उनका 'नाट्यशास्त्र' रससिद्धान्त का प्रतिपादक सर्वप्राचीन ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र कभी सूढरूप में ही विद्यमान था, परन्तु आजकल इसमें तीन स्तर दीख पड़ते हैं— सूढ, भाष्य तथा श्लोक या कारिका। भरत ने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में कतिपय अनुवंश्य श्लोकों को उद्धृत किया है जो अभिनवगुप्त के अनुसार शिष्य—परम्परा से आने वाले प्राचीन पद्यों का नाम है। नाट्यशास्त्र एक युग की रचना नहीं है, प्रत्युत वह अनेक शतियों के सामूहिक प्रयत्नों का सुखद परिणाम है।

‘कोहल’ नामक किसी प्राचीन नाट्य आचार्य ने नाट्यशास्त्र के विकास में विशेष योग दिया था; इसका पता अनेक स्थलों से चलता है। अभिनवभारती के अनुसार भरत ने ‘कोहल’ के विशिष्ट मतों को आदरपूर्वक अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर रखा है। नाट्यशास्त्र के दो रूप थे – (1) वृहत् तथा (2) लघु। प्राचीन नाट्यशास्त्र बारह हजार श्लोकों में निबद्ध था। लघु संस्करण, जो वर्तमान संस्करण है, केवल छह हजार श्लोकों का ही है। इसीलिए इस ग्रन्थ के रचयिता भरतमुनि धनन्जय और अभिनवगुप्त के द्वारा ‘षट्साहस्रीकार’ (छह हजार श्लोकों के कर्ता) के नाम से निर्दिष्ट किये गये हैं। इसकी रचना विक्रमपूर्व द्वितीय शतों से लेकर विक्रमपश्चात् द्वितीय शती के मध्य में कभी मानी जाती है।

भरत के नाट्यशास्त्र को ललित कलाओं का विश्वकोष कहना चाहिए। नाट्य-विषय का ही नहीं, प्रत्युत आलोचना शास्त्र का, छन्द-शास्त्र का संगीत का तथा अभिनय का भीयह आदि तथा प्रौढ़ ग्रन्थरत्न है। इसकी लोकप्रियता का पता इसके भाष्यकारों के नाम से भी चल सकता है। इसके 9 भाष्यकारों का परिचय मिलता है जिनके नाम हैं—

(1) उद्भट (2) लोल्लट (3) शंकुक (4) भट्टनायक (5) राहुल (6) भट्टयन्त्र (7) अभिनवगुप्त (8) कीर्तिधर तथा (9) मातृगुप्त। इन सब में अभिनवगुप्त की प्रख्यात व्याख्या ‘अभिनव भारती’ ही आज उपलब्ध होती है और इसी में उल्लिखित होने से अन्य टीकाकारों के भी अस्तित्व का पता चलता है। उद्भट का समय अष्टमशती है और अभिनवगुप्त का एकादश शती और इन्हीं दोनों के बीच में लगभग तीन सौ वर्षों के भीतर अन्य व्याख्याकारों का उदय हुआ। मातृगुप्ताचार्य के नाट्यलक्षण के श्लोकों को राघवभट्ट ने शाकुन्तल की टीका में बहुशः उद्धृत किया है। सुन्दर मिश्र (17 शती) के कथनानुसार मातृगुप्त ने भरत के श्लोकों की व्याख्या लिखी थी। इन टीकाकारों में लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक ने भरत के रससूत्र की विभिन्न व्याख्या की है जिनका निर्देश अभिनव भारती में बहुतः किया गया है।

रस सम्प्रदाय के अनुसार काव्य में रस ही एकमात्र मुख्य तत्व है। भरतमुनि ने नाटकीय रस का ही निरूपण किया है और इसीलिए रस की नाट्यरस की संज्ञा दी है। पिछले आलंकारिकों ने इसे श्रव्य काव्य का भी महनीय तत्व माना है। रस का उन्मेष ही नाट्य का तथा काव्य का चरम लक्ष्य माना जाता है। इस तात्पर्य की सिद्धि के अभाव में काव्य नीरस, फीका तथा उद्वेगकर

होता है। इसके उन्मीलन के निमित्त स्थायी तथा व्यभिचारी भाव, विभाव तथा अनुभाव का भी विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता के साथ यहां किया गया है। रस की संख्या के विषय में भी मतभेद है। इन आठ रसों की सत्ता के विषय में किसी की भी विमति नहीं है—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत। शान्त रस नवम रस माना जाता है जिसकी काव्य तथा नाट्य में सत्ता के विषय में आचार्यों में काफी मतभेद है। धनन्जय शान्तरस

को नाट्य में निषेध करते हैं, परन्तु अभिनवगुप्त नाट्य तथा श्रव्यकाव्य दोनों में इसकी सत्ता मानते हैं। रूद्रट ने 'प्रेयान्' नामक रस को, विश्वनाथ कविराज ने 'वात्सल्य' को गौडीय वैष्णवों ने 'मधुररस' को इस श्रेणी में जोड़कर रसों की संख्या को बहुत ही बढ़ा लिया है।

साहित्य में रसमत का सवतोभावेन प्राधान्य है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि के त्रिविध प्रकारों में 'रसध्वनि' को ही मुख्य तथा काव्य की आत्मा माना है। ध्वनि मुख्यतया तीन प्रकार की होती है— वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि। इन तीनों में अन्तिम मुख्यतम है। भोजराज भी समस्त वान्द्रमय को तीन भागों में बांटते हैं—(1) स्वभावोक्ति (2) वक्रोक्ति तथा (3) रसोक्ति। इनमें अन्तिम का विशेष चमत्कार काव्य में होता है। विश्वनाथ कविराज ने रसात्मक वाक्य को काव्य मानकर काव्य में रस के महत्व को स्वीकार किया है। अग्नि पुराण की स्पष्ट उक्ति है—

'वाग्वैदग्धप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्'।<sup>1</sup> काव्य में वक्रोक्ति के उत्पन्न चमत्कार के मुख्य होने पर भी रस ही उसका प्राण होता है। भरत ने नहि रादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते<sup>2</sup> का सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर रस को काव्य का मौलिक तत्त्व माना है। इस प्रकार रस सम्प्रदाय के अनेक आचार्य हुए जिनमें अनेक ध्वनि को भी विशेष महत्वशाली मानने के कारण ध्वनि सम्प्रदाय के भी अनुयायी हैं।

## 2. अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार मत के प्रवर्तक आचार्य भामह है। इस मत के पोषक हैं भामह के टीकाकार उद्भट। दण्डी, रूद्रट एवं प्रतिहारेन्दुराज भी इसी मत के अनुयायी हैं। दण्डी के मत में काव्य में पोषक अंगों को अलंकार कहते हैं। रूद्रट और प्रतिहारेन्दुराज ने भी अपने ग्रन्थों में अलंकार

को ही प्रधानता दी है। इस सम्प्रदाय में अलंकार ही काव्य की आत्मा है। अग्नि की उष्णता के सदृश अलंकार काव्य का प्राणाधायक तत्व माना जाता है। जयदेव का तो यहां तक कहना है कि जो विद्वान् अलंकार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को भी अनुष्ण (उष्णताहीन) क्यों नहीं मानता? जिस प्रकार अग्नि का उष्णतारहित होना असंभव है, उसी प्रकार काव्य का अलंकार से रहित होना असंभव है—

**अंगो करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।**

**असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलंकृती ॥ (चन्द्रालोक 1/8)**

रुय्यक की स्पष्ट सम्मति है कि प्राचीन आलंकारिकों के मत से अलंकार ही काव्य में प्रधान होते हैं।

1. संस्कृत आलोचना पृ० 276
2. संस्कृत आलोचना पृ० 276

अलंकारों का विकास धीरे-धीरे होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में इन चार ही अलंकारों का निर्देश मिलता है—यमक, उपमा, रूपक और दीपक। अतः साहित्य के मूलभूत अलंकार यही चार हैं, जिनमें से पहला तो शब्दालंकार है और अन्य तीन अर्थालंकार। भरत के मत में यमक दस प्रकार का होता है। उपमा के पांच भेद होते हैं— प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी तथा किञ्चित्सदृशी। रूपक तथा दीपक का एक-एक भेद होता है। इन्हीं चार अलंकारों से विकसित तथा परिवर्धित होकर अलंकारों की संख्या कुवलयानन्द में सवा सौ के ऊपर तक पहुंच गई है। काल-कम के अनुसार अलंकारों की संख्या के समान उनके स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है।

भरत के नाट्यशास्त्र (अध्याय 17) में 36 प्रकार के 'लक्षणों' का विवरण दिया है। बहुत से इन लक्षणों को परवर्ती आचार्यों ने अलंकार में सम्मिलित कर लिया और इस प्रकार अलंकारों

के विकास में इन 'लक्षणों' का भी कम महत्व नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ हेतु, लेश तथा याशीः को लीजिए। इनके विषय में परवर्ती आचार्यों की भिन्न-भिन्न सम्मतियां हैं। भामह हेतु तथा लेश को तो अलंकार नहीं मानते परन्तु आशीः को अलंकार मानते हैं। दण्डी ने तीनों को अलंकार माना है। परवर्ती आचार्यों के विभिन्न मत हैं। अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में हेतु तथा लेश को अलंकार माना है। इस प्रकार अलंकारों का विकास क्रमशः होता गया।

भारतीय अलंकारिकों ने अलंकारों के विभाजन के अवसर पर उनके मूल तत्वों पर भी विचार किया है। अलंकारों के विभाग के लिए उन्होंने कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये हैं। इसका संकेत सर्वप्रथम रूद्रट के काव्यालंकार में मिलता है। उन्होंने ही सबसे पहिले औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलंकारों के विभाजन का मूल कारण माना है। यह विभाजन उतना वैज्ञानिक न होने पर भी एक मौलिक विचार की सूचना देता है। इस विषय में 'अलंकार सर्वस्व' के कर्ता रूय्यक का निरूपण बड़ा ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। इन्होंने औपम्य, विरोध, लोकन्याय आदि को अलंकारों का मूल विभेदक तत्व मानकर अलंकारों का विभाजन सुन्दर समीक्षा के साथ किया है। इस सम्प्रदाय के प्राचीनतम और महत्व का परिचय इसी घटना से लगता है कि इसी के नाम पर ही हमारा समस्त आलोचना-शास्त्र 'अलंकार-शास्त्र' के नाम से अभिहित किया जाता है।'

## महत्व

अलंकार सम्प्रदाय में रस की स्थिति विचारणीय है। अलंकार मत को मानने वाले आचार्यों को रस का तत्व अज्ञात नहीं था; परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर काव्य के प्राणभूत अलंकार का ही एक प्रकार माना है। 'रसवत्', 'प्रेयस', 'उर्जस्वी' तथा 'समाहित' नामक अलंकारों के भीतर रस और भाव का समस्त विषय इन आलंकारिकों ने निविष्ट कर दिया है। भामह को महाकाव्य में रसों की आवश्यक स्थिति मान्य है। दण्डी भी रस तत्व से परिचित हैं और रसवत् अलंकार के भीतर इन्होंने आठों रस और आठों स्थायी भावों का निर्देश किया है। वे माधुर्य गुण के अन्तर्गत भी रस का समावेश मानते हैं। अतः दण्डी को रसतत्व से अपरिचित नहीं माना जा सकता। उद्भट ने भी रसवत् अलंकार के निरूपण के अवसर पर विभाव, संचारीभाव जैसे

पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख ही नहीं किया है बल्कि रस के नव भेदों का भी स्वीकार किया है। रूद्रट भी काव्य में रस का सन्निवेश करने का उपदेश देते हैं। इन सब उल्लेखों का यही आशय है कि भामह दण्डी, उद्दट तथा रूद्रट जैसे अलंकार सम्प्रदाय के मान्य आचार्य रसतत्व की महत्ता से पर्याप्त परिचित हैं। भरत मुनि से पश्चाद्वर्ती होने से यह ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त उचित है। परन्तु वे लोग उसे अलंकार का ही एक रूप मानते हैं। अलंकार उनकी दृष्टि में एक व्यापक सिद्धान्त है।

## अलंकार और ध्वनि

इन अलंकारिकों को काव्य में प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि) की भी सत्ता किसी-न-किसी रूप में अज्ञात न थी। रूय्यक का स्पष्ट मत है कि भामह तथा उद्दट प्रभृति अलंकार-वादी आचार्यों ने प्रतीयमान (व्यंग्य) की टीका 'तरला'

### 1. संस्कृत आलोचना पृ० 277

में मल्लिनाथ ने भामह प्रभृति आचार्यों को ध्वनि के अभाव का प्रतिपादक आचार्य माना है परन्तु उन्हें ध्वनि-अभाववादी मानना उचित नहीं प्रतीत होता। वे ध्वनि के सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित हैं। वे प्रतीयमान अर्थ को न तो काव्य की आत्मा मानते हैं और न ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य जैसे पदों का अपने अलंकार-ग्रंथों में प्रयोग करते हैं; परन्तु प्रतीयमान अर्थ से कथमपि अपरिचित नहीं है। 'पर्यायोक्त' अलंकार के भीतर ध्वनि की कल्पना इन आलंकारिकों को स्पष्टतः मान्य है। समासोक्ति, आक्षेप आदि अलंकारों में भी द्वितीय अर्थ के रूप में प्रतीयमान प्रतीत होता है।

अलंकार सम्प्रदाय में प्रतीयमान अर्थ के विवेचन का अभाव रूद्रट को इतना खटका कि उन्होंने 'भाव' नामक एक नवीन अलंकार की ही कल्पना कर डाली। इसके दो भेद हैं जिनके उदाहरणों को मम्मट ने तथा अभिनवगुप्त ने प्रतीयमान अर्थ का द्योतक माना है। ऐसी दशा में हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अलंकारवादी रूद्रट को व्यंग्य का सिद्धान्त सर्वथा मान्य था। अन्तर इतना है कि वे इसे स्वतन्त्र रूप देने के पक्षपाती नहीं थे, प्रत्युत इसे वे अलंकार के भीतर

गतार्थ मानते हैं। दण्डी और भामह ने अलंकार का जो महत्व काव्य में स्वीकार किया है वह किसी-न-किसी मात्रा में पिछले युग तक चला ही गया। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को महत्व देकर भी अलंकार के वर्णन में अपनी उदासीनता नहीं दिखलाई। ध्वनिवादी होते हुए भी मम्मट ने अपने ग्रन्थ में अलंकारों का जो सुन्दर तथा विस्तृत निरूपण किया है वह किसी भी अलंकारवादी आचार्य के वर्णन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

### 3. रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। दण्डी ने भी रीतियों के वर्णन में बहुत-सा स्थान तथा समय लगाया है, परन्तु वामन के ग्रन्थ में रीति का जो महत्व दिखलाई पड़ता है वह किसी भी आलंकारिक के ग्रन्थ में नहीं दीख पड़ता। उनके सिद्धान्त में रीति की महत्ता का पता इसी से लग सकता है कि उन्होंने बलपूर्वक रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है—**रीतिरात्मा काव्यस्य**। पदों की विशिष्ट रचना को ही रीति कहते हैं—**विशिष्टा पदरचना रीतिः**।<sup>1</sup> पदों में विशिष्टता गुणों के ही कारण उत्पन्न होती है, गुणों के अभाव में पद एक सामान्य रूप में ही स्थित रहते हैं। अतः रीति गुणों के ही ऊपर अवलम्बित रहने वाला काव्यतत्त्व है—विशेषी गुणात्मा। इसीलिए रीति सम्प्रदाय 'गुण सम्प्रदाय' के नाम से भी पुकारा जाता है।

गुणों का सर्वप्रथम वर्णन भरत ने नाट्यशास्त्र में किया है। गुण संख्या में दस होते हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति (नाट्यशास्त्र 16/98)। रूद्रदामन् के गिरनार शिलालेख (150ई0) में भी माधुर्य, कान्ति तथा उदारता जैसे काव्यगुणों का स्पष्टतः उल्लेख पाया जाता है। भरत के द्वारा निर्दिष्ट इन गुणों को दण्डी ने स्वीकार किया है। परन्तु भरत से उनकी व्याख्या में अनेक स्थलों पर अन्तर है। गुणों में शब्दगत अथवा वैशिष्ट्य मानना दण्डी की मौलिक सूझ है। वे इन दस गुणों को केवल वैदर्भमार्ग (वैदर्भी रीति) का प्राण मानते हैं तथा इनके विपर्यय को गौडीय मार्ग का प्रतिपादक स्वीकार करते हैं।

वामन के गुणों की कल्पना तथा इनकी व्याख्या अत्यन्त नवीन और मौलिक है। वामन गुणों को दो प्रकार का मानते हैं—(1) शब्दगुण और (2) अर्थगुण। इस विभाजन में जो शब्दगुणों



के नाम हैं वे ही अर्थगुणों के भी हैं, परन्तु दोनों प्रकार के गुणों की कल्पना में पर्याप्त अन्तर है। वे ही गुण शब्दगुण होते हैं, तथा अर्थगुण भी। नाम में भेद नहीं, परन्तु दोनों के स्वरूप में महान् अन्तर है। गुण के विषय में दामन का मत अन्य आलंकारिकों को मान्य नहीं हो सका। इनके पहले ही भामह ने दस गुणों के स्थान पर केवल तीन गुणों—माधुर्य, ओज, प्रसाद—की कल्पना स्वीकार की थी। इसी मत का अवलम्बन पीछे के आलंकारिकों ने किया। मम्मट, हेमचन्द्र और और विश्वनाथ कविराज आदि आलंकारिकों ने गुणों की संख्या तीन ही मानी है। इतने ही पर्याप्त हैं काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया कि या तो अन्य गुणों का

#### 1. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत आलोचना पृ० 278

इन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भाव होता है, या वे दोषाभाव रूप है अथवा कहीं—कहीं वे गुण न होकर वस्तुतः दोष ही हो जाते हैं। वामन के मार्ग का थोड़ा अवलम्बन भोजराज ने किया है परन्तु इन्होंने गुणों के विभाजन तथा स्वरूप दोनों में विशेष अन्तर किया है। भोजराज ने गुणों के तीन भेद माने हैं (1) बाह्यगुण (2) आन्तरगुण और (3) वैशेषिक गुण। उन्होंने गुणों की भी संख्या दस से बढ़ाकर चौबीस कर दी है। (सरस्वती कण्ठाभरण 1 |58–65)।

### रीति का विकास

रीति का प्राचीन नाम मार्ग या पन्था है। इसकी कल्पना अलंकारशास्त्र के आदिम युग में भामह में पूर्वकाल में कभी—न—कभी अवश्य हुई होगी। वैदर्भ मार्ग काव्य का एक रमणीय मार्ग माना जाता था तथा गौडीय मार्ग निन्दनीय था। परन्तु स्वतन्त्रमार्गी भामह का विचारधारा निराली है। उनका स्पष्ट कथन है कि हमें न तो वैदर्भ मार्ग की प्रशंसा करनी चाहिए और न गौडीय मार्ग की निन्दा। बल्कि काव्य के शोभन गुणों ही की ओर ध्यान देना चाहिए। दण्डी ने इन दोनों मार्गों—वैदर्भ मार्ग और गौडीय मार्ग का बड़ा ही विस्तृत विवेचन किया है। वे वैदर्भ मार्ग को ही पूर्वाक्त दस गुणों से युक्त मानते हैं और गौडीय मार्ग में कतिपय गुणों को छोड़कर अन्य गुणों का विपर्यय स्वीकार करते हैं। इसलिए दण्डी की दृष्टि में वैदर्भ मार्ग ही कवियों के लिए आदर्श रूप से अनुकरणीय मार्ग है और गौडीय मार्ग नितान्त अस्पृहणीय मार्ग है।

वामन ने दण्डी की अपेक्षा काव्य की कल्पना को बड़े ही दृढ़ आधार पर निर्मित किया है। काव्य की आत्मा को खोज निकालनेवाले वे सर्वप्रथम आलंकारिक हैं। उनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा रीति है। दण्डी की दो रीतियों के स्थान पर वे तीन रीतियां मानते हैं—(1) वैदर्भी (2) गौडी और (3) पान्चाली। वैदर्भी रीति में समस्त दस गुणों की सत्ता विद्यमान रहती है। गौडीय रीति में केवल ओज और कान्ति गुण होते हैं तथा पान्चाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों की सत्ता होती है। पिछले आलंकारिकों ने रीति की इस संख्या को बहुत ही बढ़ा दिया है। राजशेखर ने कर्पूरमन्जरी के मंगलश्लोक में इन तीन रीतियों का उल्लेख किया है (1) वच्छोमी (वैदर्भी) (2) मागधी तथा (3) पान्चालिका (पान्चाली)। रूद्रट ने लाटीया को भी नई रीति मानकर रीतियों की संख्या चार कर दी है। भोज ने आवन्ती, मागधी और लाटी को नयी रीतियां मानकर इनकी संख्या वामन की अपेक्षा दुगुनी (छः) कर दी है। इतना होने पर भी वामन के द्वारा उद्भासित तीन ही रीतियां का काव्यजगत् में आज भी प्रचलन है। वामन ही सबसे कम अलंकारों का निर्देश करते हैं। गुणों के समान ही इनकी अलंकारों की उद्भावना भी नितान्त मौलिक और सुन्दर है।

## महत्त्व

अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय में काव्य सिद्धान्तों का विशेष विकास लक्षित होता है। अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति-सम्प्रदाय ने काव्य की आत्मा का विवेचन बड़ी मार्मिकता के साथ किया। आनन्दवर्धन की मान्यता है कि काव्य के तत्वों के उन्मीलन में रीति सम्प्रदाय के आचार्य ने अपनी क्षमता दिखलाई है। वामन की यह प्रकारान्तर से भूयसी प्रशंसा है।

रीति सम्प्रदाय को गुण और अलंकार का परस्पर पार्थक्य दिखलाने का गौरव प्राप्त है। भामह ने गुण और अलंकार का परस्पर भेद नहीं दिखलाया और दण्डी ने काव्य की शोभा करने वाले समस्त धर्मों (अर्थात् गुणों) को भी 'अलंकार' शब्द से व्यवहृत कर अपने अलंकारवादी होने का परिचय दिया। परन्तु वामन ने काव्य में गुणों को अलंकारों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उनकी दृष्टि में काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म 'गुण' कहलाते हैं तथा उसका अतिशय (वृद्धि) करने वाले 'अलंकार' बढ़ाने वाले धर्म 'गुण' कहलाते हैं तथा उसका अतिशय (वृद्धि) करने वाले धर्म 'अलंकार' के नाम से पुकारे जाते हैं। काव्य में अलंकार की अपेक्षा गुण अधिक

महत्त्वशाली हैं क्योंकि वे काव्य में नित्य रहते हैं। उनके बिना काव्य की शोभा उत्पन्न नहीं होती। काव्य की शोभा के एकमात्र आधायक धर्म को 'गुण' मानना इस सम्प्रदाय का महत्त्व है।

अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय के आलोचकों की दृष्टि गहरी तथा पैनी है। भामह आदि अलंकारवादी आचार्य रस को काव्य का बहिरंग साधन मानते हैं। परन्तु वामन उसे काव्य के अन्तरंग धर्मों में परिगणित कर रस की महत्ता स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। इन्होंने 'कान्ति' गुण के भीतर-रस का अन्तर्निवेश कर काव्य में इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। वामन को वक्रोक्ति के भीतर 'अविवक्षित वाच्य ध्वनि' का अन्तर्भाव भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार काव्य के तत्वों का विवेचन इस सम्प्रदाय में अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। ध्वनिवादी आचार्यों को भी रीति का सिद्धान्त मान्य है और वे ध्वनि के साथ उसका सामन्जस्य दिखलाने में कृतकार्य हुए हैं। रीति को एक नई दिशा में ले जाने का श्रेय आचार्य कुन्तक को प्राप्त है। इन्होंने रीति को कवि के स्वभाव के साथ सम्बद्ध मानकर काव्य में रीति के महत्त्व को अंगीकार किया है। वर्तमान रीतियों का नामकरण भौगोलिक आधार पर हुआ है। परन्तु कुन्तक को न तो यह आधार ही पसन्द है और न यह नाम ही। इसलिए उन्होंने रीतियों के इन नये नामों की उद्भावना की है :-

- (1) सुकुमार मार्ग            (=वैदर्भी रीति)
- (2) विचित्र मार्ग            (=गौड़ी रीति)
- (3) माध्यम मार्ग            (=पान्चाली रीति)

काव्य में रीति का तथा तत्पोषक काव्यतत्व गुण का सिद्धान्त नितान्त महनीय है जिसकी उपासना कविजनों का लक्ष्य होना चाहिए।

1. संस्कृत आलोचना पृ० 28

#### 4. वकोक्ति सिद्धान्त

संस्कृत साहित्य में 'वकोक्ति' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है और वह अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। वाणभट्ट ने कादम्बरी में 'वकोक्ति' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। वाण ने इसका प्रयोग कीड़ालाप या परिहासकथा के अर्थ में किया है। अमरुशतक में ही इस शब्द का प्रयोग 'सुन्दर उक्ति' के अर्थ में दीख पड़ता है। 'वकोक्ति' का शाब्दिक अर्थ है वक्र उक्ति अर्थात् टेढ़ा कथन। 'काव्य' की उक्ति साधारण लोगों के कथन-प्रकार से भिन्न तथा अधिक चमत्कृत होनी चाहिए और यही वकोक्ति है। ऐतिहासिक दृष्टि से अलंकारशास्त्र में वकोक्ति की कल्पना भामह से आरम्भ होती है। भामह वकोक्ति को अतिशयोक्ति का ही दूसरा नाम मानते हैं और इसे काव्य का मूल तत्व स्वीकार करते हैं।

काव्य में वकोक्ति की उपयोगिता भामह को इतनी मान्य है कि वे हेतु, सूक्ष्म तथा लेश नामक अलंकारों की वकोक्ति से वंचित होने के हेतु अलंकार मानने के पक्षपाती नहीं हैं। वे अलंकारों के लिए वकोक्ति की स्थिति अत्यन्त आवश्यक मानते हैं :-

**“वाचां वकार्थ-शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते”**

अर्थात् वक (टेढ़ा) अर्थ का कथन शब्दों के लिए अलंकार का काम करता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में वकोक्ति का लक्षण है—<sup>1</sup>

**“शब्दस्य हि वकता, अभिधेयस्य च वकता, लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम्।।**

भावार्थ यह है कि लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप में होता है उस रूप में न होकर उससे विलक्षण रूप में होना 'वकोक्ति' कहलाता है।

आचार्य दण्डी ने समस्त वान्डमय को दो भागों में बांटा है — (1) स्वभावोक्ति, (2) वकोक्ति। स्वभावोक्ति के भीतर उन स्थलों का अन्तर्भाव किया

जाता है जिनमें वस्तुओं का यथार्थ कथन विद्यमान हो। स्वभाव या यथार्थ कथन से भिन्न होने के कारण वकोक्ति में 'अतिशय कथन' का समावेश किया गया है। इस प्रकार उपमा आदि अर्थालंकार तथा रसवद्, प्रेयादि रस से सम्बद्ध अलंकार वकोक्ति के अन्तर्गत आते हैं।

वर्तमान में भी वकोक्ति का वर्णन किया है परन्तु उनके द्वारा वर्णित वकोक्ति भामह द्वारा प्रदर्शित वकोक्ति से नितान्त भिन्न है। जहां भामह ने वकोक्ति को अलंकारों का सामान्य मूलभूत आधार माना है, वहां वामन उसे अर्थालंकार में परिगणित करते हैं। उनकी दृष्टि में वकोक्ति सादृश्य के ऊपर आश्रित होने वाली लक्षण ही है। लक्षणा के अनेक आधार हो सकते हैं। परन्तु सादृश्य (समानता) के आधार पर आश्रित होने वाली लक्षण 'वकोक्ति' कही जाती है :—<sup>1</sup>

### “सादृश्याल्लक्षणा वकोक्तिः।”

रुद्रट के समय में आकर वकोक्ति एक शब्दालंकार बन जाता है। किसी के वाक्य को सुनकर श्रोता उसके किसी शब्द को भिन्न अर्थ में ग्रहण कर जब अवांछित तथा अकल्पित उत्तर देता है तब रुद्रट के अनुसार वकोक्ति होती है। परन्तु वकोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक की वकोक्ति इन सबसे विलक्षण है। वे इसे अलंकार न मानकर काव्य की आत्मा (मूलतत्त्व) मानते हैं। उनकी वकोक्ति का लक्षण है—“वैदग्धी—भंगी—भणितिः”—अर्थात् किसी वस्तु का साधारण लौकिक प्रकार से भिन्न, अलौकिक ढंग से कथन। इस प्रकार जो वकोक्ति भामह में अलंकारों के मूलतत्त्व के रूप में गृहीत थी, वामन में सादृश्यमूला लक्षणा के रूप में अर्थालंकार थी और रुद्रट में शब्दालंकार मानी जाती थी, वही कुन्तक के मतानुसार काव्य का मूलतत्त्व स्वीकार की गई।

'वकोक्ति' को काव्य की आत्मा मानने वाले कुन्तक वकोक्ति—सम्प्रदाय के संस्थापक है। कुन्तक बड़े ही प्रौढ़ तथा मार्मिक आलोचक थे। उनकी मौलिकता

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत आलोचना, पृ० 283 ( आचार्य कुन्तक का कथन)

के कारण हम उन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त की कोटि में मानते हैं। वे रस तथा ध्वनि दोनों सिद्धान्तों से परिचित थे परन्तु उन्हें आलोचना में स्वतन्त्र स्थान न देकर वकोक्ति का ही

विशिष्ट प्रकार मानते हैं। इनके मतानुसार वक्रोक्ति छः प्रकार की होती है :- (1) वर्णवक्रता (2) पदपूर्वाद्ध-वक्रता (3) पदोत्तराद्ध-वक्रता (4) वाक्य-वक्रता (5) प्रकरण-वक्रता और (6) प्रबन्ध-वक्रता। उपचार-वक्रता के भीतर इन्होंने ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया है। इनकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनि के समस्त भेद सिमट कर विराजने लगते हैं। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचन शक्ति बड़ी मार्मिक है। इनका ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के मौलिक विचारों का भण्डार है। दुःख है कि इनके पीछे किसी आलोचक ने न तो इस सिद्धान्त को अग्रसर किया और न इस सम्प्रदाय का अनुगमन ही किया। वक्रोक्ति के महनीय काव्य-तत्त्व को बीजरूप में सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को है। इस बीज को उदात्त रूप से अंकुरित करने का यश आचार्य कुन्तक को प्राप्त है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इनके वक्रोक्ति के सिद्धान्त को काव्य की आत्मा (जीवातु) के रूप में तो नहीं स्वीकार किया है, परन्तु वक्रोक्ति के अनेक प्रकारों को ध्वनि में अन्तर्भुक्त कर उन लोगों ने इनके निरूपण की महत्ता को स्पष्टतः अंगीकार किया है। वक्रोक्ति सिद्धान्त 'संस्कृत आलोचना' में काव्य में एक मौलिक तत्व के रूप में सदा अमर रहेगा।

## 6. ध्वनि सम्प्रदाय

साहित्यशास्त्र के इतिहास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय यही 'ध्वनि सम्प्रदाय' है। इस सम्प्रदाय के आलोचकों ने ध्वनि की उद्भावना पर काव्य में निहित अन्तस्तत्त्व की व्याख्या की है। ध्वनि के सिद्धान्त को व्यवस्थित करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को प्राप्त है जिनका आविर्भाव काश्मीर में नवम शताब्दी के मध्यकाल में हुआ। इस सिद्धान्त के विरोधी आचार्यों की कमी नहीं थी, परन्तु अन्तर्वल होने के कारण यह सिद्धान्त उनकी परीक्षाग्नि में खरा उतरा और आजकल यह साहित्य-संसार का सर्वस्व है।

ध्वनि क्या है ? जहां वाच्यार्थ के भीतर से एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले जो वाच्य अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण ही, वही ध्वनि काव्य कहलाता है। अर्थ मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं— (1) वाच्य और (2) प्रतीयमान। वाच्य के अन्तर्गत अलंकार आदि का समावेश होता है और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का। प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि काव्य में वस्तुस्थिति

के अवलोकन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है। किसी कामिनी के शरीर में लावण्य की चमक रहती है जो उसके अंगों में से भिन्न एक पृथक् वस्तु होती है। काव्य में भी उसके अंगों से पृथक् चमत्कार—जनक प्रतीयमान अर्थ की सत्ता नियतमेव वर्तमान रहती है। आनन्दवर्धन का स्पष्ट कथन है—

**“प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। (ध्वन्यालोक 1।4)<sup>1</sup>**

आनन्दवर्धन का महत्व इसी में है कि उन्होंने अपनी अलौकिक मनीषा के द्वारा इस काव्यतत्त्व को अन्य काव्यांगों से पृथक् कर स्वतन्त्र स्थान दिया। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास आदि कवियों के काव्य में ध्वनि का साम्राज्य है। परन्तु उसकी समीक्षा कर उसे काव्यतत्त्व का एक प्रधान सिद्धान्त बता कर व्यवस्थित रूप देना साधारण आलोचक बुद्धि का काम नहीं था। आलोचना के इतिहास में ध्वनि—सम्प्रदाय रूप देना साधारण आलोचक बुद्धि का काम नहीं था। आलोचना के इतिहास में ध्वनि—सम्प्रदाय को विशेष महत्व प्राप्त है। आनन्दवर्धन ने ‘ध्वन्यालोक’ नामक ग्रन्थ में इस तत्त्व की पहिली मार्मिक व्याख्या की। उनके लगभग सौ वर्षों के बाद अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका ‘लोचन’ में इस सिद्धान्त की दृढ़ रीति से प्रतिष्ठा की। मम्मट ने अपने ‘काव्य—प्रकाश’ में इस सिद्धान्त की सदा के लिए पूर्णरूप से स्थापना की और इसीलिए वे ‘ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य’ की संज्ञा से प्रसिद्ध हैं। ध्वनि के शब्द तथा तत्त्व के लिए आलंकारिक लोग वैयाकरणों के ऋणी हैं। वैयाकरण लोग ‘स्फोट’ नामक एक ऐसे पदार्थ को मानते हैं जिससे अर्थ फूटता है या अविर्भूत होता है। **“स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः”** — इस व्युत्पत्ति से अर्थ जिस शब्द

#### 1. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक 114

से फूटता है—अभिव्यक्त होता है वह ‘स्फोट’ कहलाता है। इस स्फोट को अभिव्यक्त करने का कार्य वही शब्द करता है जिसका हम उच्चारण करते हैं। इसे ही ध्वनि कहते हैं। वैयाकरणों के इस ‘ध्वनि’ शब्द को लेकर आलंकारिकों ने इसका विस्तृतीकरण किया है।



आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के 51 प्रकारों में तीन ही को मुख्य माना है (1) रसध्वनि (2) अलंकारध्वनि और (3) वस्तुध्वनि। 'रसध्वनि' के भीतर केवल नव रसों की ही गणना नहीं होती प्रत्युत भाव, रसाभास, भावोदय, भावसन्धि और भावसबलता की भी गणना है। वस्तुध्वनि वहां होती है जहां किसी तथ्य-कथन मात्र की अभिव्यञ्जना की जाय। अलंकारध्वनि वहां होती है जहां अभिव्यक्त किया गया पदार्थ इतिवृत्तात्मक न होकर कल्पना-प्रसूत हो, जो अन्य शब्दों में प्रकट किये जाने पर अलंकारध्वनि का तो सर्वथा इसमें ही पर्यवसान होता है। ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना तो सामान्य कथन है। 'वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है' आलोचकों का यही निश्चित मत है। काव्य का अभ्यासी कवि चित्रकाव्य से अभ्यास भले ही करे, परन्तु परिपक्व मतिवाले कवियों का एकमात्र पर्यवसान 'ध्वनिकाव्य' में ही होता है।

ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य तीन प्रकार के होते हैं (1) ध्वनिकाव्य (2) गुणीभूत व्यंग्य और (3) चित्रकाव्य। ध्वनिकाव्य में वाच्य से प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार अधिक होता है। यहीं सबसे उत्तम काव्य है। जिस काव्य में व्यंग्य तो रहता है परन्तु वह वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कृत होता है उसे 'गुणीभूत व्यंग्य' कहते हैं। चित्र-काव्य में शब्द तथा अर्थ के अलंकारों से ही काव्य में चमत्कार आता है। यह अधम कोटि का काव्य है सच्चे कवि का कार्य यह नहीं है कि वह रस से सम्बन्ध न रखनेवाली कविता के लिखने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करे।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के मूल सिद्धान्त के अनुसार समस्त काव्यतत्वों का उचित संतुलन काव्य में दिखलाया। विशेषतः गुण और अलंकार को उनके वास्तविक स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया। गुण वे ही धर्म होते हैं जो रस-लक्षण मुख्य अर्थ के ऊपर अवलम्बित रहते हैं। अलंकार काव्य के अंगभूत शब्द तथा अर्थ पर ही आश्रित रहनेवाले अनित्य धर्म है। इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अप्रतिष्ठित रहता है। ध्वनि को छोड़कर औचित्य तत्व का उन्मीलन कथमपि युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। अतः औचित्य तथा ध्वनि परस्पर उपकारक तथ्यों के काव्य-जगत् में अवतीर्ण होते हैं।

साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य क्षेमेन्द्र थे। ये स्वतः ध्वनिवादी थे तथापि 'औचित्य विचार चर्चा' नामक अपने ग्रन्थ में इन्होंने औचित्य को व्यापक श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को

ही प्राप्त हैं। औचित्य किसे कहते हैं। इसका उत्तर देते हुए सदृश हो, जिससे उसका मेल मिले उसे कहते हैं 'उचित' और उचित का ही भाव होता है—औचित्य।<sup>1</sup>

“उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं यस्य यत्।  
उचितस्य च यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते ॥”

(औचित्यविचार चर्चा, कारिका 7)

यह औचित्य ही रस का जीवित-भूत है, उसका प्राण है तथा काव्य में चमत्कारकारी है।

“औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे। रस-जीवित-भूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥”<sup>2</sup>

(औचित्यविचार चर्चा, कारिका 3)

क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किये हैं। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखा कर तथा इसके अभाव को अन्यत्र बतलाकर क्षेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया है। औचित्य की विशद विवेचना कर क्षेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र में इसे व्यवस्थित रूप दिया। परन्तु इन्हें ही इस सम्प्रदाय का उद्भावक मानना भयंकर

1. आचार्य क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार चर्चा, कारिका 7
2. वही पृष्ठ कारिका 3

ऐतिहासिक भूल है। क्षेमेन्द्र ने अपने विवेचन के लिए आनन्दवर्धन तथा भरत से सामग्री एकत्रित की है। इनके द्वारा बताये गये औचित्य के सभी भेद 'ध्वन्यालोक' में पूर्णतया विद्यमान हैं। सच्ची बात तो यह है कि औचित्य के बिना न नो अलंकार ही कोई शोभा धारण करता है और न गुण ही रुचिकर प्रतीत होता है। अलंकार और गुण के शोभन होने का रहस्य औचित्य के भीतर ही निहित है। क्षेमेन्द्र का यह महत्वपूर्ण कथन है—

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,<sup>1</sup>

पाणों नुपूरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।

शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायन्ति के हास्यतां ।

औचित्येन बिना रूचि प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणः ।।

इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को पिछले युग के आलंकारिकों ने अपनी काव्य-कल्पना में औचित्य के तत्व को पूर्णतः स्वीकार किया और अपनी समीक्षा में इसका उपयोग किया ।

रसालंकृति-वक्रोक्ति-रीतिध्वन्यौचिती-कमाः ।<sup>2</sup>

साहित्यशास्त्र एतस्मिन् सम्प्रदाया इमे स्मृताः ।।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में हम यह पाते हैं कि काव्य-शास्त्रीय मूल्यांकन का आधार काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदायों में निहित है । काव्य के दो पक्ष हैं- भाव पक्ष एवं कला पक्ष । भावपक्ष के अन्तर्गत रसानुभूति आती है । रसानुभूति के बाधार्थ रस एवं ध्वनि सिद्धान्त का बोध आवश्यक है । कलापक्ष के निरूपण में वक्रोक्ति, रीति, अलंकार का अध्ययन उपयोगी है । वक्रोक्ति एवं रीति, भंगिमा एवं संरचना की व्याख्या करती हैं । अलंकार अर्थ की विवृत्ति की ओर इंगित करते हैं । इन सबके समवेत प्रयोग विधि को औचित्य कहते हैं । औचित्य रचनाकार की दिग्दर्शिका है । काव्य-शास्त्रीय मूल्यांकन में उभयपक्ष के सन्तुलन का बोध

1. संस्कृत आलोचना, पृ० 289 ।

2. वही पृ० 289 ।

आवश्यक है । किसी भी कवि के काव्य में दोनों पक्ष ( भाव पक्ष एवं कला पक्ष) विद्यमान रहते हैं । कुछ कवियों में रसानुभूति के अधिक अवसर होते हैं । ऐसे कवि रस प्रधान होते हैं । कुछ कवियों में कलापक्ष की प्रधानता होती है । रसखान ऐसे कवि हैं जिनके काव्य में रस की प्रधानता है । रसानुभूति के लिए साधारणीकरण का बोध आवश्यक है । साधारणीकरण के प्रसंग में अनुभूति और संवेदना विवेचनीय हैं ।

### रसखान का काव्य-शास्त्रीय मूल्यांकन

(अ) अनुभूति और संवेदना : मानव सृष्टि का ऐसा प्राणी है जिसमें ही अनुभूति एवं संवेदना का सम्यक् विकास हुआ है । जब हम साहित्य में अनुभूति एवं संवेदना पर विचार करते हैं तो इनका

महत्व आदि कवि से ही दिखाई देने लगता है। आदि कवि ने क्रौंच के जोड़े में से एक को मारते हुए बहेलिये को देखा तथा उनकी अनुभूति (दुःखपरक) काव्य की संवेदना में परिवर्तित हो गई।<sup>1</sup>

मा निषाद प्रतिष्ठाम त्वम गमः शाश्वती समाः  
यद् क्रौंच मिथुनादेकं अवधीः काम मोहितम् ॥

प्रथम कवि का प्रथम छन्द दुःख से उत्पन्न हुआ। अनुभूति के अनेक रूप हैं इसे स्थूल रूप से सुख-दुःख कहा जाता है। अनुभूति से संवेदना तथा संवेदना से रस उत्पन्न होता है इसलिए भरत मुनि ने कहा था—सुख दुःखात्मको रसः<sup>1</sup> ये सुख और दुःख अनुभूति के अंश हैं। तुलसी ने प्रकारान्तर से इस प्रकार व्यक्त किया है<sup>1</sup> 'जो बरसै वर वारि विचारू। होहिं कविता मुकुता मनि चारू ॥ निरन्तर अनुभूति की प्रेरणा काव्य को जन्म देती है। काव्य के विकास में संवेदना का महत्वपूर्ण इतिहास है, प्रसाद का यह कथन इस संदर्भ में उद्धरणीय है—<sup>2</sup>

'चेतना का सुन्दर इतिहास, अखिल मानव भावों का सत्य' मानवता के

1. वाल्मीकि : रामायण: बालकाण्ड
2. तुलसीदास : रामचरितमानस : बालकाण्ड
3. जयशंकर प्रसाद : कामायनी : श्रद्धासर्ग ।

भाव को उद्वेलित करने वाला तत्व साहित्य है तथा साहित्य और संवेदना का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। स्रष्टा सामाजिक प्राणी है। वस्तुतः भावानुभूति ही काव्य में रस के परिपाक में मदद करती है।

**भावानुभूति और रस** : काव्य का लक्ष्य रस परिपाक होता है। रस परिपाक में भाव महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भरतमुनि ने दोनों के सम्बन्ध को इस प्रकार दिखाया है— 'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रस वर्जितः।

रस की निष्पत्ति भावों के विविध स्वरूपों के सम्मिश्रण से होती है। 'विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भाव ही रस से पुष्ट होकर विभाव अनुभाव आदि का रूपधारण करते हैं। इन्हीं के उचित सम्मिश्रण से काव्य में हृदय संवादी गुण का

विकास होता है। एक के हृदय का दूसरे के हृदय के अनुरूप होना ही संवाद कहलाता है। आलोचकों ने हृदय संवाद और साधारणीकरण को पर्यायवाची माना है। साधारणीकरण रसानुभूति की पराकाष्ठा है। इसी स्थल पर आकर कवि की भावधाराएं सर्वसाधारण की भावनाएं हो जाती हैं।

अनुभूति एवं संवेदना का पर्यावसान रसानुभूति में होता है। रस के स्वरूप अन्वेषण के लिए हमें संस्कृत साहित्य की ओर उन्मुख होना पड़ता है। संस्कृत आचार्यों ने रस के स्वरूप पर बड़े विस्तार से विचार किया है। आचार्य भक्त, अभिनवगुप्त और विश्वनाथ के मत इस दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। आचार्य विश्वनाथ ने रस की स्वरूप की व्याख्या करते हुए लिखा है—<sup>1</sup>

सत्वोद्रेकादखण्डश्च प्रकाशानन्दचिन्मयः  
वेदानतरस्पर्श शून्यो ब्रह्मस्वाद सहोदरः  
लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः  
स्वाकारवदभिन्न त्वेनोयामास्वाद्यते रसः

#### 1. आचार्य विश्वनाथ : साहित्य दर्पण।

अर्थात् रस सत्वोद्रेक प्रधान होने के कारण अखण्ड रूप, प्रकाशात्मक आनन्द रूप, चैतन्य स्वरूप, वेदान्तर स्पर्शशून्य, ब्रह्म स्वाद सदृश लोकोत्तर चमत्कार से अनुप्राणित रहता है।

### साधारणीकरण

रसानुभूति की प्रक्रिया तब तक स्पष्ट नहीं हो सकती जब तक साधारणीकरण के सिद्धान्त की व्याख्या न की जाय। संस्कृत काव्य में रस सामग्री या उपकरण के आधार पर रस स्वरूप की व्याख्या की गई है रस सिद्धान्त के प्रथम आचार्य भरत ने सूत्र रूप में विभाव, अनुभाव और संचारी भाव (कर्मचारी भाव) के रस निष्पत्ति का उल्लेख किया था – विभानुभाव व्यभिचारी संयोगाति, रस निष्पत्ति। इस निष्पत्ति की व्याख्या को लेकर आचार्यों में मतभेद रहा। रसानुभूति की प्रक्रिया को तीन सम्प्रदायों के समाधान के रूप में देखा गया –

1. जब विभावादि प्रत्यक्ष नहीं होते तो फिर उनसे साक्षात् रसानुभूति कैसे होगी।
2. बहुत से विभावादि पूज्य भावना से प्रतिष्ठित रहते हैं, तब इन पूज्य व्यक्तियों की रत्यादि में रसास्वादन करने में सामाजिक कैसे समर्थ होगा।
3. करुण रस का स्थायी भाव शोक है। यह दुखात्मक है, वह रस के रूप कैसे अनुभूत होता है।

आचार्यों ने रस-सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में इन तीनों समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की। भट्टलोल्लट शंकुक आदि की व्याख्याएं उपर्युक्त तीनों समस्याओं में से केवल प्रथम के सुलझाव का स्पर्श करके रह गईं। भट्टलोल्लट के आरोपवाद ने विभावादि की प्रत्यक्षता रज्जु सर्पवत् सिद्ध की और शंकुक ने चित्र तुरगादि न्याय के आश्रय से उनके अतीतत्व दोष का निराकरण करने का प्रयास किया है किन्तु भ्रम के ये दोनों सिद्धान्त विद्वानों को प्रभावित न कर सके। इस दिशा में आचार्य भट्टनायक ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने साधारणीकरण के सिद्धान्त की कल्पना कर सभी समस्याओं का समाधान खोज निकाला। इन्होंने अपने विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया – अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व नामक काव्य का दूसरा व्यापार होता है। उस भावकत्व व्यापार से भाव्यमान होकर स्थायी भाव रजस-तमस से विच्छिन्न होकर रस रूप में जिसकी प्रमुख विशेषताएं घृति, विस्तार और विकास है, अनुभूत होता है। आचार्य मम्मट ने इस प्रक्रिया को और अधिक स्पष्ट किया। अभिधा तथा लक्षणा व्यापारों से भिन्न विभावादि के साधारणीकरण स्वरूप 'भावकत्व नामक व्यापार से साधारणीकृत स्थायी भाव के उद्रेक से प्रकाश और आनन्दमय की स्थिति के सदृश 'भोजकत्व' नामक व्यापार से आस्वादित किया जाता है। भट्टनायक ने अपने साधारणीकरण व्यापार में विभाव और स्थायी भाव दोनों के साधारणीकरण का होना बताया है। उनका यह कथन इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। "भावकत्वं साधारणीकरणम् तेन हि व्यापारेण विभावादायः स्थायी च साधारणीक्रीयन्ते, साधारणीकरणं चैतदैव यत् सीतादि विशेषणम् कामिनीत्वादि सामान्येन परिस्थिति।"

अर्थात् भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस भावकत्व या साधारणीकरण व्यापार से विभावादि और स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण का अर्थ है सीतादि का साधारण कामिनी रूप मात्र में रह जाना। स्थायी भाव के रजोगुण और तमोगुण का परिहार हो

जाता है और स्थायी भाव केवल सत्वोद्रेक मात्र रह जाता है। यह सत्वोद्रेक ही रस कहलाता है। भोग व्यापार से इसी का भोग होता है। भट्टनायक के साधारणीकरण को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

1. अभिधा से काव्यार्थ का बोध।
2. भावकत्व व्यापार से पहले विभवादि का साधारणीकरण होना अर्थात् उसका व्यक्तिगत सम्बन्धों से विच्छिन्न होना।
3. काव्यस्थ स्थायी भाव का साधारणीकरण तथा सतोगुण का उद्रेक होना अर्थात् उसका व्यक्तिगत सम्बन्धों से विच्छिन्न होना।

1. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत्र : शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, पृ० 211

**अभिनवगुप्त का मत** — उन्होंने साधारणीकरण केवल विभाव और काव्य के स्थायी भाव का नहीं माना, दर्शक के स्थायी भाव के साधारणीकरण की बात भी स्वीकार की। किसी सहृदय के द्वारा ही स्वीकार से अभिन्न रूप में आस्वादित किया जाता है। उपर्युक्त पंक्तियों के प्रकाश में रस की निम्नलिखित विशेषताएं व्यंजित होती हैं—

1. रस का सम्बन्ध केवल सतोगुण से होता है। रसानुभूति की अवस्था में रजोगुण और तमोगुण का परिहार होता है। रज और तम से प्रेरित ममत्व और परत्व की भावनाओं का लोप हो जाता है।
2. रस आस्वाद रूप है। वह आस्वाद भी माधुर्य रूप होता है। इसका आस्वादन केवल सहृदयों को ही हो सकता है। सामान्य मानवों को नहीं।
3. इसका उदय अखण्ड और अद्वैत रूप में होता है। इसमें विभाव अनुभाव, स्थायी, संचारी आदि की पृथक—पृथक स्थिति नहीं होती। ये समस्त मिलकर अखण्ड और अद्वैत रस रूप में प्रतिभासित होते हैं। अद्वैत का रूप होने के कारण अन्य लौकिक और अलौकिक अनुभूतियों का तिरोभाव हो जाता है।
4. यह अखण्ड और अद्वैत रूपिणी अनुभूति चिन्मय होती है उसमें ज्ञान की प्रतिष्ठा रहती है। वह जड़ रूप नहीं होती—वह ज्ञान प्रकाश रूप होती है।

5. इस प्रकार के रस से उद्भूत होने वाला आनन्द एक विशेष लोकोत्तर चमत्कार से चमत्कृत रहता है। यह चमत्कार ही उसकी अभिव्यक्ति में एक विचित्र आकर्षण भर देता है। वास्तव में रसानुभूति स्थूल और भौतिक न होकर सूक्ष्म और आध्यात्मिक होती है। किन्तु यह आध्यात्मिकता सच्ची आध्यात्मिकता की प्रतिबिम्ब मात्र होती है। इसीलिए उसे 'ब्रह्मस्वाद सहोदर' अथवा 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा गया है।
6. रस न तो ज्ञाप्य होता है और न कार्य। उसका साक्षात् अनुभव भी नहीं होता। लौकिक शब्दों में उसकी व्यंजना नहीं की जा सकती। इसीलिए उसे अनिर्वचनीय और अलौकिक मानते हैं। उसकी समता निर्विकल्पक समाधि से भी नहीं कर सकते क्योंकि उस अवस्था में अहंकार-भावना का सदा के लिए विनाश हो जाता है किन्तु रसानुभूति की अवस्था में उसका परिहार केवल क्षणिक मात्र होता है।

संक्षेप में यह रस की प्रमुख विशेषताएं हैं। भावानुभूति तथा संवेदना के व्यापक क्षेत्र का पता हमें तब चलता है, जब हम रस के विभिन्न भेदों का स्वरूप विश्लेषण करते हैं। भरतमुनि ने रसों की संख्या आठ मानी है। उनके अनुसार शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स ये चार ही प्रमुख रस हैं। इन्हीं से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रस की उपत्पत्ति होती है तथा उन्होंने रसों के बारे में कहा—“अष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः”। तथा आठों रसों को इस प्रकार गिनाया है—<sup>1</sup>

“शृंगार हास्य करुण—रौद्र वीर भयानकाः

वीभत्साद्भुत संज्ञौ चेत्येष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः ॥

इसके बाद उन्होंने शान्त रस को नवां रस माना है — ‘शान्तोऽपि नवमो रसः’

सामान्यतया नव रस मानने की ही परम्परा है। विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण वत्सल रस की सागोपांग विवेचना की है। परवर्ती काव्य—शास्त्र में भक्ति रस को भी मान्यता मिली है। रस इन अंगों के विवेचना में संवेदना का विवेचन हो जाता है। वस्तुतः रसानुभूति के केन्द्र में संवेदना विद्यमान रहती है।



**(ब) अभिव्यक्ति सौन्दर्य** :- प्रथम खण्ड में अनुभूति और संवेदना में रसनाभूति को परिभाषित किया गया है। यहां यह बताने का प्रयास किया गया है कि भाव से रसानुभूति किस प्रकार जुड़ी रहती है। रसखान श्रृंगार रस के प्रखर कवि हैं उनकी रसमयता में ही उनकी कला पहचानी जा सकती है। जहां तक भावाभिव्यक्ति का प्रश्न है इस भक्त कवि के रस पेशलता के बाद ही उसका स्थान है। काव्य के दो पक्ष हैं—अनुभूति पक्ष तथा अभिव्यक्ति पक्ष। अभिव्यक्ति का पूरा संभार काव्य—भाषा पर अवलंबित है। जहां तक रसखान की काव्य—भाषा का प्रश्न है उनकी भाषा ब्रजभाषा है तथा कृष्ण जैसे नायक को पाकर वह और मधुर हो गयी है। भागवत के विषय में कहा गया है कि—<sup>1</sup>

निगम कल्पतरुर्गलितं फलं शुक मुखादमृत द्रव संयुतम्

पिवत् भागवतं रसमालयं मुहुरहों रसिका भुवि भावुकाः

शुक जिस फल को चख लेता है वह मीठा हो जाता है। इस प्रकार भागवत की कथा शुक देव जी कहने से मीठी हो गई है। यही कथन रसखान के बारे में भी सत्य है। रसखान ने कृष्ण की जिस माधुर्य भक्ति का निरूपण किया है उसे व्यक्त कर ब्रजभाषा धन्य हो गई है। वाणभट्ट ने आख्यायिका के माध्यम से भाषा के सौष्टव का जो वर्णन किया है वह रसखान के काव्य—भाषा पर भी लागू होता है—<sup>2</sup> स्फुरतकला लाप विलास कोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्। रसेन शय्यां स्वयमभ्युगता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव।।

शोभित मनोहर आभूषण की मधुरता से कोमल शब्द योजनावाली नई कथा, शोभमान मनोहर आलाप के विलास से सुकुमार और शय्या को प्रचुर कौतुक को उत्पन्न करती है। वस्तुतः रसखान की अभिव्यक्ति भंगिमा में नवपरिणीता वधू की भांति आकर्षण है। उसमें माधुर्य का अभिनव प्रवाह है। प्रेम की कालिन्दी यहां प्रवणता के साथ निरन्तर प्रवाहमान है।

**अभिव्यक्ति सौन्दर्य के निदर्शन :-**

रसखान की काव्य—यात्रा एक भंवर है। बार—बार घूमकर फिर शुरू करना है। बार—बार एक ही मूर्ति के चारों ओर घूमना है। लेकिन भ्रम यही रहता है कि हम नहीं घूम रहे, वह मूर्ति ही घूम रही है। वह मूर्ति ही चंचल है जो

#### 1. भरत : नाट्यशास्त्र।

उसको स्थिर मानकर ध्यान करते हैं, वे उन्हें ढूँढ़ते ही रह जाते हैं, उनका अन्त नहीं पाते, वे स्वयं खो जाते हैं जो लोग उन्हें चंचल रूप में देखते हैं, उनके लिए वे वैसे ही सुलभ हैं, जैसे रसखान की अहीर की छोहरियों के लिए छछियाभर छाछ पर नाचने के लिए तत्पर, एवं आतुर हैं और ब्रज के पानी में मथे हुए वही की छाछ पर तो निश्चय ही वे अपने को न्यौछावर करने के लिए आतुर हो जाते हैं—<sup>1</sup>

गावैं गुनी गनिका गन्धर्व और सारद सेष सबै गुन गावत ।  
नाम अनंत गनंत गनेस ज्यों ब्रह्मा विलोचन पार न पावत ।।  
जोगी जती तपसी अरू सिद्ध निरन्तर जाहि समाधि लगावत ।  
ताहि अहीर की छोहरियां छछिया भरि छाछ पै नाच नचावत ।।

ऐसा चपल सौंदर्य भी कभी—कभी छक जाता है और कहीं छिपना चाहता है, लोग पुकार लगाते—लगाते थक जाते हैं, कोई उनका पता नहीं बताता, पता बताये भी तो कैसे? वे छिपते हैं उस निकुंज में जहां राधिका मान किए बैठी है और मनाने के लिए श्रीकृष्ण को छिपकर आने की लाचारी हुई है, आने की ही नहीं, राधिका के पांव पलोटने की भी लाचारी हुई है—

ब्रह्म मैं ढूँढ़्यो पुरानन गानन वेद रिचा सुनि चौगुने चायन ।  
देख्यौ सुन्यौ कबहूं न किंतू वह कैसे सरूप और कैसे सुभायन ।।  
हेरत हेरत हारि पर्यौ रसखानि बतायौ न लोग लुगायन ।  
देखौ दुरौ वह कुंज—कुटीर में बैठयो पलोटत राधिका पायन ।।

रसखान की वृत्ताकार काव्य—यात्रा का केन्द्र है—राधा—कृष्ण का प्यार, विराट् आकाश का माटी के साथ प्यार, सूर्य का अगहन के कुहासे से ढकी हुई नक्षत्रमाला अनुराधा से प्यार ।

## 1. सुजान रसखान सवैया, पृ० 26

रसखान की एक गोपी ने राधा के सौन्दर्य का वर्णन ही इस प्रकार किया है, 'वासर तू जु कहीं निकसै रवि को रथ मांझ अकास अरै री'। यदि दिन में तू कहीं निकलती है तो सूर्य का रथ आकाश में अटक जाता है। माटी की प्रीति का वर्णन रसखान ने इस प्रकार किया है—

कहां कहूं आली कछु कहती बनै न दसा  
नंदजी के अंगना में कौतुक एक देख्यौ मैं।  
जगत के ठाटी महापुरुष विराटी जो निरंजन  
निराटी ताहि माटी खात देख्यौ मैं।।

क्या कहूं कहते नहीं बनता नंदजी के आंगन में विलक्षण तमाशा देखा। निरंजन और विराट पुरुष को माटी खाते देखा। यह प्यार प्राणों को प्राणों के साथ प्यार है। यह अग्नि और सोम तत्व का एक—दूसरे में अन्तर्भाव है।<sup>१</sup>

रसखान की काव्य—यात्रा में कोई पड़ाव नहीं है, कहीं विश्राम लेने को मन नहीं करता क्योंकि एक तो यात्रा ही ऐसी है जिसमें एक क्षण के लिए भी विह्वलता कम नहीं होती और दूसरे यह कि ऐसे चपल के साथ प्रीति की यात्रा है जो बार—बार झांसा देता रहता है, हाथ में आकर के फिर निकल जाता है। जब वह खड़ा रहता है, तब भी उसका अंग—प्रत्यंग गतिशील रहता है, नाचता रहता है, और उसकी प्रत्येक बांकी भंगिमा में मन लुभाता चला जाता है। लुभता ही नहीं, जैसे रांगा गला करके किसी में ढाल दिया जाय वैसे ही उस भंगिमा में मेरा शरीर ढल जाने के लिए रांगा हो जाता है और यह सब होता है पहले ही दर्शन में, बिना किसी पूर्व परिचय के। कभी वह मेरी गली से इसके पहले नहीं निकला। एकाएक कालिन्दी के तीर पर उसे खड़े देखा और यह रूपान्तर हो गया, अगर कहीं परिचय होता तो जाने क्या होता।

माइ सुहाइ न या पै कहूं यह न कहूं यह मेरी गरी निकर्यौ है।  
धीर समीर कालिन्दी के तीर, खर्यो रहै आजु री दीठि पर्यो है।।

1. सुजान रसखान सवैया, पृ० 26
2. वही पृ० 216

ऐसे अपरिचित का प्यार सब को नहीं मिलता और मांगे भी नहीं मिलता है, यह तो सहज ही मिलता है और वृन्दावन की सहज भूमि में ही मिलता है, औचक मिलता है। कभी-कभी तो सोते समय मिल जाता है।

काहू न चौजुग जागत पायो सो राति जसोमति सोवत पायो।

जिसे किसी ने किसी भी युग में रात-रात जागकर नहीं पाया उसे यशोदा ने सोते पा लिया। इसीलिए रसखान की काव्य-यात्रा को समझने के लिए ब्रज की जमीन को समझना बहुत जरूरी है। इस ब्रज-भूमि का बड़ा ही विचित्र हिसाब है। इसकी रेत इसकी सरिता है, और इसकी नदी विरह के उद्वेग में बोलती हुई नहर, इसके पाहन को छप्पन भोग लगता है और इसके तमाल के अन्धकार में नीले और सुनहले प्रकाशों का खेल होता है। इसमें श्रीकृष्ण के उपद्रव के कारण प्यार होता है और जब प्यार हो जाता है तो यह प्यार ही सबसे बड़ा उपद्रव हो जाता है और ऐसा उपद्रव हो जाता है कि न इसे सहा जा सकता है, न इसके बिना रहा जा सकता है—

काहू को माखन चाखि गयो अरू काहू को दूध दही ढरकाया<sup>1</sup>।

काहू के चीर लै रूख चढ्यौ अरू काहू को गुंज छरा छहरायो।।

मानै नहीं लरजै रसखान सुजानो ही राज इन्हें घर आयो।

आउरी बुझैं जसोमति सों यह छोहरा जायो कि भय उपजायो।।

वह ब्रज एक ओर खुलेपन के लिए निमंत्रण है, दूसरी ओर इस निमंत्रण में सब कुछ खो जाने का जोखिम है, एक वर्जन है, हालांकि इस वर्जन पर कोई ध्यान नहीं देता क्योंकि आमन्त्रण अधिक प्रबल है। राधिका को एक गोपी बरजती है—गांव के बाहर गोरस बेचने वन से जाओ, वन में सघन कुंज है, वहां श्रीकृष्ण बैठे रहते हैं और कचनार ने डालों पर फूल नहीं खिले हैं,

मारक और बेधक प्यार खिलखिला रहा है, वहां जाओगी तो तुम्हारी लाज तुम्हें संभाल नहीं पायेगी, लाज स्वयं विश्रुंखल हो जाएगी, मत जाओ—

1. सुजान रसखान कवित्त, पृ० 184

जाहि री ना भटू क्योँ करि कै बन पैठत पाइबी लाज संभार न।

कुंजनि नंदकुमार बसै तहां मार बसै कचनार की डारन।।

इस दुर्निवार आमन्त्रण के वन में रसखान के साथ मैं प्रवेश कर रहा हूं। अपनी काव्य—यात्रा का संकल्प लेते समय इब्राहीम मियां ने प्रेमदेव की छवि छककर उनका नाम रसखान ले लिया और रसखान का नाम हिन्दी साहित्य में एक सार्थक नाम बन गया। रसखान के लौकिक प्रेम के अलौकिक प्रेम में रूपान्तर की कथा प्रसिद्ध है। रसमय ब्रज क्षेत्र में उनकी समाधि है। यह भी एक अद्भुत संयोग है कि रसखान अतृप्त आकांक्षाओं के वन में सोये हैं। 'उनका काव्य वियोग—विधा की मजूरी उनकी भाषा ब्रजभाषा के उसखरिक की भाषा है, जो श्रीकृष्ण के हृदय में खरकता रहता है, क्योंकि वह भाषा छल—कपट रहित सीधी भाषा है। उस भाषा में सम्बोधन करने वाला और सम्बोधित होने वाला व्यक्ति दो नहीं है एक ही है, वही अपने आप गोपी बनता है, वही अपने आप कृष्ण बनता है, अपने आप उलाहना देता है, अपने आप उत्तर देता है, कभी अकेला हो जाता है तो सोचता है सब ऐश्वर्य झूठ है, यह सारा राजपाट व्यर्थ है—<sup>1</sup>

ग्वालन संग जे वन ऐबो सु गाइन संग,  
हेरि तान गइबो हाहा नैन फरकत है।  
ह्मां के गजतोती माल वारौं गुंजमालन पै,  
कुंज सुधि आए हाय प्रान धरकत है।  
गोबर को गारो सुतौ मोहि लगै प्यारौ,  
कहा भयौ महल सोने को जटित मरकत है।  
मन्दिर ते ऊंचे यह मंदिर है द्वारिका के,  
ब्रज के खिरक मेरे हिए खरकत है।।

वही कभी गोपी होकर पछताता है और बरजता है 'जो कोई चाहे भलो अपनो तो सनेह न काहूं सों कीजियो भाई' पर स्वयं इस दुर्निवार प्रेम में फंसा ही रहता है। रसखान का संसार

देखने में छोटा है, ब्रज के कुछ हजार गोप-गोपियों का संसार है। पर वस्तुतः बड़ा विस्तृत है, क्योंकि बहुत खुला हुआ

#### 1. सुजान रसखान कवित्त, पृ० 99

है, क्योंकि कहीं बीच में कोई ओट या दीवार नहीं है। अगर ओट है तो वह भी अपने ही सीधेपन की, अपने ही संकोच की ओट है। रसखान का मान एक बीधा हुआ मन है, एक अपने ही आपसे दिया हुआ मन है। ऐसे कवि के बारे में कुछ भी कहते समय यह सुधि नहीं रहती कि कहां से शुरू करें, जिस लीला-वितान का गान रसखान ने किया है, उसका न कहीं आदि है और न अन्त। इस लीला का प्रत्येक क्षण अपूर्व है। रसखान का समय लगभग सत्रहवीं शताब्दी है। ये पिहानी, जिला हरदोई में जन्मे। इनका नाम सैयद इब्राहीम था। इनकी जवानी दिल्ली में बीती। इन्होंने दिल्ली से ब्रज आने की कथा इस प्रकार दी है—<sup>1</sup>

देखि गदर हित साहिबीं दिल्ली नगर मसान  
छिनही बादसाह बंस की ठसक छोड़ि रसखानि।  
प्रेम निकेतन श्रीवनहिं आय गोबरधन धाम  
लह्यौ सरन चिंतचाय के जुगल सरूप ललाम।।

इस परिचय से यह संकेत मिलता है कि कोई बहुत बड़ी उचाट इनको हुई जिससे इन्हें लगा कि दिल्ली नगर श्मशान हो गया है और बादशाही ठसक बिल्कुल थोथी है और ये ब्रज की ओर मुड़ गये। इनको लौकिक प्रेम निस्सार लगा और श्रीकृष्ण के प्रेम में ये पागल हो गए और ब्रज में ही बस गए। किसी ने कहा, 'तुम्हारी रियासत छिन जाएगी।' तो उन्होंने उत्तर दिया, कहा करै रसखान को को ऊचुगुल लबार, जोपै राखनहार है माखन चाखनहार। रसखान ने जिस प्रेम-पंथ की साधना की वह विधि-निषेध से परे था, कामना से परे था, दम्पत्ति सुख अति विषयरस पूजा निष्ठा ध्यान, इन तैं परै बखानिए सुद्ध प्रेम रसखान।' इनका प्रेम सांसारिक प्रेम, पारलौकिक प्रेम, किसी भी दूसरे लगाव से बड़ा लगाव था, ऐसा लगाव था जिसको पाकर न बैकुण्ठ की चाह रह जाती है, न बैकुण्ठनाथ की। केवल उनके प्रेम की ही चाह रह जाती है—<sup>1</sup>

1. रसखान, प्रेमवाटिका : दोहा, पृ0 48-49

जेहि पाए बैकुण्ठ अरु हरिहुं की नहिं चाहि ।  
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ सरस सुप्रेम कहाहि ॥

प्रेम श्रीकृष्ण का वह रूप है जो सबको छूता है। कभी छूकर तपाता है, कभी छूकर हर्षाता है। वह साक्षात् श्रीकृष्ण है। पर ऐसे अलग लगता है जैसे सूरज से धूप अलग लगती है। सूरज की सार्थकता है धूप होने में, श्रीकृष्ण की सार्थकता है प्यार होने में। ऐसे प्रेम को श्रीकृष्ण भी बड़प्पन देते हैं और वे क्या-क्या नहीं सुनते। कभी तो कोई कहता है—‘सब बेधत प्रानौ नन्द के छौनो’। कभी छछिया भर छाछ पै नाच नचाता है’, कभी कोई कहता है कि यह बांसुरी नहीं बजाता, विष बगराता है—<sup>2</sup>

दूध दुहयो सीरो पर्यो तातो न जमाओ कर्यो ।  
जामन दयो सो धर्यो धर्योई खटाइगो ।  
आन हाथ आन पाइ सबही के तबहीं ते,  
जबहीं ते रसखानि तानन सुनाइयो ॥  
ज्यों ही नर त्यों ही नारी तैसी ये तरून बारी  
कहिए कहा री सब ब्रज बिललाइगो ।  
जानिए न आली यह छोहरा जसोमति को  
बांसुरी बजाइगो कि विष बगराइगो ॥

इसके मारे सारा ब्रज व्याकुल है। ऐसी बांसुरी बजाता है कि प्राणी खींच लेता है। कभी इन्हें उलहना मिलता है कि चोर है, बटमार है, बरजोरी करता है। कभी कोई कहता है, ‘अरे हरि चेरी के चरो भयो है’, कुबरी दासी के दास हो गए हैं श्रीकृष्ण। और कभी उस पर इतना प्यार आता है कि ‘मेरे बनमाली को न काली तें छुड़ावही’ मेरे बनमाली को कालिय नाग से कोई नहीं छुड़ाता।’

राग, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, मद, मोद, सब श्रीकृष्णमय हो जाते हैं, क्योंकि इन सबके आलम्बन श्रीकृष्ण बन जाते हैं और श्रीकृष्ण के आलम्बन बनने पर कोई

1. सं० डा० विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली पृ० 122

2. सुजान रसखान कवित्त पृ० 52

दूसरा आलम्बर रह नहीं जाता, आश्रय भी आलम्बन बन जाता है। जिस पर क्रोध करें, जिसे प्यारे करें, जिससे ईर्ष्या करें, जो नाश बन जाय, जो मोह बन जाय, वह सब श्रीकृष्ण ही तो हैं। सारे भाव संचारी चाहे स्थायी श्रीकृष्ण हो जाते हैं। श्रीकृष्ण केवल आलम्बन विभाव ही नहीं व उद्दीपन विभाव भी हो जाते हैं। मोहन की हंसी, मोहन के केश—पाश, मोहन की अलकावली के आगे और मोहन के गले में पड़ी कोरी वनमाला और उसकी उन्मद गन्ध ही उद्दीपन बन जाती है। सारे अनुभाव ही श्रीकृष्ण हो जाते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण को देखना श्रीकृष्ण होना, है, श्रीकृष्ण का आस्वाद लेना श्रीकृष्ण होना है, श्रीकृष्ण को सूँघना श्रीकृष्ण होना है। श्रीकृष्ण के स्पर्श से जो रोमांच होता है वह भी श्रीकृष्ण हो जाता है। जहां कहीं भेद दीखता भी है वह अपना पैदा किया हुआ नहीं है वह भी विराट का एक छल है। वह अपनी प्रतीति हजार रूपों में कराना चाहता है और प्रत्येक रूप को अपूर्व दिखलाना चाहता है। तुलनीय— 'रूपों रूपो प्रतिरूपो बभूव'

रसखान सच्चे अर्थ में मरजीवा कवि है, ऐसी बेखुदी के शिकार हो गये हैं कि वे रसखान भी नहीं रह पाते, वे सब कुछ भूल जाते हैं पर वह भूल नहीं भूलते जो उनसे एक बार हो गयी है। वह भूल यह हुई कि वह श्रीकृष्ण से प्यार कर बैठे। जिस प्रकार वह गोपी प्यार करने की भूल कर बैठी जो तीर्थयात्रा की भीड़ में भटक गई थीं। धाय की बांह छुट गई भटकती हुई यशोदा के भीतर की तरफ चली गई और वहां एकाएक श्रीकृष्ण की मुसकान पर उनको प्यार करने की भूल कर बैठी और सब तो भूल गई, भटकना भूल गई, पर श्रीकृष्ण से प्यार करने की भूल नहीं भूलती, न उनके पीछे रात—दिन का भटकाव भूलता है—<sup>1</sup>

तीरथ भीर में भूलि परी अलि छूट गई नेकु धाय की बांही ।  
हौं भटकी भटकी निकसी सु कुटुम्ब जसोमति की जिहिं धांही ।  
देखत ही रसखान मनौ सु लग्यौ रही रह्यौ कबको हियरा हीं ।  
भांति अनेकन भूली हुती उहि धौंस की भूलनि भूलत नाहीं ॥



यह बेखुदी बड़ी संक्रामक है, जो भटकाते हैं, वे भी भटक जाते हैं,  
जो लुभाते हैं वे भी लुभ जाते हैं, जो छलते हैं वह भी छल जाते हैं

और बेखुदी का एक आलम छा जाता है जब यह स्थिति होती है कि प्रेमी और प्रेमिका को अपनी-अपनी भूमिका भूल जाती है। श्रीकृष्ण को गायेँ भूल जाती हैं, राधा को गागर उठाना—<sup>2</sup>

एरी आज काल्हि सब लोक लाज त्यागि दोऊ,  
सीखे हैं सबै विधि सनेह सरसायबो।  
वह रसखानदिन द्वैमें बात फैलि जैहे,  
कहां लौ सयानी चन्द हाथनि छुपायबो।  
आज हौं निहार्यों बीर निपट कालिंदी तीर,  
दोउन को दोउन सों मुख मुसकायबो।  
दोऊ परै पैयां दोऊ लेत है बलैयां  
उन्हें भूलि गई गैयां इन्हें गागर उठायबो।।

जो गागर लेकर राधा जमुना किनारेगई थीं वह गागर जल से नहीं भरी थी। वह स्मृतियों से भरी हुई थी, वे स्मृतियाँ एक पारावार पूरन अनुभव के आगे कहाँ टिक पाती हैं, वे जहां रखी गई वहीं रखीं हैं और एक जादू दोनों पर छा जाता है।<sup>1</sup>

रसखान प्रेम को एक शिखा के रूप में देखते हैं जो वियोग के ताप में सुलगती रहती है। खौलते हुए स्नेह में तपती रहती है, थोड़ी-थोड़ी भीतर भभकती भी रहती है। पर जब प्रिय के आने की बात की आग बाहर प्रकाश बन जाती है—<sup>2</sup>

मोहन जू के वियोग की ताप मलीन महा द्युति देह तिया की।  
पंकज सों मुख गो मुरझाय लगैं लपटैं बिरहागि हिया की।।  
ऐसे में आवत कान्ह सुने रसखान सु तनी तरकी आंगिया की।  
यों जगि जोति उठी तन की उकसाय दई मनौं बाती दिया की।।

1. सुजान रसखान सवैया, पृ० 197

2. सुजान रसखान कवित्त, पृ० 59

रसखान केवल रूप की प्यास नहीं जगाते, वे नाद की विद्धता भी जगाते हैं और इसीलिए उनके मन में सबसे अधिक गांस अगर किसी वस्तु की तो बांस की बांसुरी से। ब्रज में उससे बड़ी बैरिन कोई नहीं। बांसुरी बजती है तो सारे काम—काज बिला जाते हैं, कुछ करते—धरते नहीं बनता। मन में यही होता है कि सारे के सारे बांस कटा डालें। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी। इसके मारे जो जल में है वह घड़ा भर नहीं पाता। जो रास्ते में है चल नहीं पाता। जो घर में है कुछ कर नहीं पाता। तन—मन ऐसा बेहाल हो जाता है कि कुछ कहते नहीं बनता। लोक हंसाई ऊपर से होती है—

जल की न घट गरें मग की न पग धरें  
 धरें की न कछु करैं बैठी भरैं सांसु री ॥  
 एकै मुनि लोट गई एकै लोटपोट भई  
 एकनि के दृगन निकसि आये आसुरी ॥  
 कहै रसनायक सो ब्रज वनितानि विधि  
 बधिक कहायें हाय हुई कुल हांसुरी ॥  
 करिये उपाय बांस डारिये कटाय  
 नाहिं उपजैगो बांस नाहिं बाजै फेरि बांसुरी ॥<sup>1</sup>

बांसुरी केवल हमको बींधती, इतना ही नहीं वह श्रीकृष्ण को इतना बस में किए हुए है कि रात—दिन संग लगी रहती है। अब इस सौत की सांसत कौन सहे, अब तो लगता है कि ब्रज में केवल बांसुरी ही रहेगी हम लोग कहीं दूसरी जगह भाग चलें—

जग कान्ह भये बस बांसुरी के अब कौन सखी हमको चहिहै।  
 यह राति दिन संग लागि रै वा सौति कि सांसन को सहिहै ॥  
 जिन मोहि लियो मन मोहन को रसखान सु क्यों न हमें दहिहै।  
 मिलि आओ सबै कहि भागि चलै अब तो ब्रज में बांसुरी रहिहै ॥<sup>2</sup>

1. सुजान रसखान कवित्त पृ0 140।  
 2. सुजान रसखान कवित्त पृ0 182।

एक ओर तो रूप और नाद की विद्वता, दूसरी ओर एक डर बना हुआ है, लोक का डर नहीं क्योंकि लोक तो श्रीकृष्ण के भीतर है। डर इस बात का है कि श्रीकृष्ण कहीं प्यार करना छोड़ न दें, कहीं कोई ऐसी त्रुटि न हो जाय कि वे विमुख हो जायें। 'आओ संकल्प करें, हम सब सह लेंगे, चोरी करें, बरजोरी करें, छल करें, जो भी उत्पात करें—सब सह लेंगे—

डरै सदा चाहें न कछु सहै सबैं जो होय,  
रहै एक रस चाहि के प्रेम बखानौ सोय।।

पर कहां तक सहें इतना प्यार दिखाकर श्रीकृष्ण मथुरा चले गए—

सांझ तें भोर लौं भोर ते सांझ लौं गोपिन घातक यों रट लाई।  
एरी भटू कहिये तो कहां कहूं बैरी अहीर ने पीर न पाई।।

इस बैरी अहीर के मन में कोई पीर नहीं उठती। मन में पछतावा होता है कि बेवकूफी तो मुझसे हुई कि माखन—सा मन लेकर माखन चोर की ओर गई ही क्यों? गई तो इसके लिए तैयार रहती कि वह सब कुछ तोड़ देगा, लीस से मोड़ देगा, एक अलीक राह पर चलने के लिए विवश कर देगा, क्योंकि वह फिरंगी है। वह तीन जगह से टेढ़ा है। वह हर तरह से टेढ़ा है। वह केवल मोड़ना ही नहीं जानता है; मोड़ कर तोड़ना भी जानता है—<sup>1</sup>

सुन्दर स्याम सजै तन मोहन जोहन में चित चोरत है।  
बांके विलोकन की अवलोकन नौकन के दृग जोरत है।।  
रसखानि मनोहर रूप सलोने को मारग तै मन मोरत है।  
काज समाज सबै कुल लाज लाल ब्रजराज के तोरत है।।

और इस प्रकार टूटने के लिए मन तैयार हो जाता है तो फिर कोई चिन्ता नहीं रहती, कोई भय नहीं रहता, कोई लाज नहीं रहती, कोई लीक नहीं रहती। रहे भी कैसे, इस वृन्दावन की धारा यमुना ही औड़े बहती है। कोई कहा

1. सुजान रसखान कवित्त, पृ0 39
2. वही सवैया पृ0 139

करे, सबेरे ही गोरस बेचने मत जाओ, सिर मत चढ़ो, नहीं तो आते—जाते ही सांझ हो जाएगी। यमुना किनारे का रास्ता बड़ा टेढ़ा है और कहीं ऐसे संझलौके में रसखान श्रीकृष्ण मिल गए तो आंखे तुम्हारी उनकी कनौड़ी हो जाएंगी और तुम घर पहुंची—पहुंची ब्रजराज के सनेह की डौंड़ी पिट जाएगी—<sup>2</sup>

बारहीं गोरस बेंचरी आज तूं माय के मूड़ चढ़ै कित मौड़ी।  
आवत जात लौं होयगी सांझ भटू यमुना भतरौड़ लौं औड़ी।।  
एते में भेंटत ही रसखान हवै हैं अंखियां बिन काज कनौड़ी।  
एरी बलाय लौं जायगी बाजि अवै ब्रजराज सनेह की डौड़ी।।

डौड़ी पिटा करे, करें क्या। उन्हें मुसकाते हुए देखा मन खो गया, मग भूल गया, तन की सुधि चली गयी और सिर पर रखा दी का भाजन फूट गया और आंखों से लाज का नाता—रिश्ता भी टूट गया। दही का मटका उन्हीं के लिए था। पर ऐसे निर्दयी कि दही खा लिया, मटका तोड़ दिया, तन—मन का सारा गोरस छीन लिया और गोरस का भाजन चित्त भी नहीं रहने दिया—<sup>1</sup>

भौंह भरी बहनी सुधरी अतिहै अधरान रंग्यौ रंगराती।  
कुण्डल लोल कपोल महाछवि, कुंजनि ते निकस्यो मुसकातो।।  
रसखानि लखे मन खोय गयो मग भूलि गई तनकी सुधि सातो।  
फूटि गयी दधि को सिर भाजन टूटिगो नैनन लाज को नातो।।

अब तो स्थिति यह है कि खंजन जैसी आंखें छवि के पिंजरे में बंध गई हैं। एक क्षण भी स्थिर नहीं रह पातीं, एक मुसकान पर सारी कुल की लाज छूट गई है। देह नहीं रही, एक तस्वीर हो गई है—एक जड़ी हुई तस्वीर हो गई है। मुँह से आवाज नहीं निकलती कि दुहाई लगावें। क्या करें, जिधर जाऊँ उधर ही लोग बोल पड़ते हैं कि यह कहां से बावली आ गई—<sup>2</sup>

1. सुजान रसखान सवैया, पृ0 39
2. सुजान रसखान सवैया, पृ0 21

खंजन नैन फंसे पिंजरा छवि नाहिं रहैं थिर कैसेहूं माई ।  
छूट गई कुलकानि सखि रसखान लगी मुसकानि सुहाई ।।  
निचलिखी—सी भई सब देह न बैन कढ़ै मुख दीन्ह दुहाई ।  
कैसो करौं जित जाऊं तितै सब बोल उठै यह बावरी आई ।।

लोग कहा करें पागल, अब तो जो हुआ सो हुआ, जो लोग हंसते हैं वे क्या जानें कि रस का समुद्र छोटे से हृदय में हिलोर लेता है तो क्या पीड़ा होती है—

अब तो जो भई सो भई कहें होत है लोग अजान हंस्यौ सो हंस्यौ ।  
कोउ पीर न जानत जानत साँ जिहिके हिय में रसखान बस्यौ ।।

और 'अब कैसे छुटाई छुटै अंटकी रसखानि दुहंकी बिलोकनि बांकी' एक तिरछी नजर दूसरी तिरछी नजर में फंस जाएगी तो कैसे निकल पाएगी । जब कहां का नेम, कहां का धरम, वह जो नाच नावे वही नाचना है । अब सारा गांव—घर कोई भी नाम धरे अब मैं गोरी नहीं रहूंगी, सांवरी बन जाऊंगी, क्योंकि मैंने अपने को सांवरी मूरत की उजास में बोर लिया है ।

रसखान का काव्य कहीं रुकता नहीं, आँखें अटकती हैं । अब चित्त डूबता है तो डूब जाय । रसखान की कविता रस—समुद्र में तिरही हुई तरह—तरह की लहरों का जोखिम उठाती रहती हैं । एक लहर है बसन्त की, जिसमें यह नहीं पता चलता कि कौन अधिक लाल हुआ? श्रीकृष्ण होली में अधिक रंगे या श्रीकृष्ण के रंग में ब्रजवाला अधिक रंगी ।—'होरी भई कै हरी भए लाल, कै लाल के लागि पगी ब्रजवाला ।' एक लहर है वर्षा की, जिसमें दही लेकर गोपी निकलती है और चोरी—चोरी निकलती हैं । उसने वर्षा के अन्धकार से अपने को एकाकार करने के लिए नख से शिख तक नीला वस्त्र धारण किया है और जब श्रीकृष्ण मिल जाते हैं और दान लेने पर अड़ जाते हैं तो नीले वस्त्र से ढंका शरीर कांप उठता है, नीले वस्त्र से ढंकी कंचन काया कांप उठती है ।

1. सुजान रसखान सवैया, पृ0 22
2. वही सवैया 29

ऊपर आकश में काले बादलों के बीच बिजली तड़पती है और पृथ्वी पर तमाल की काली छाया में नीले वस्त्र में ढंकी हुई मानो श्रीकृष्ण से ही चारों ओर से आवृत राधा सिर से पैर तक कांपने लगती है, जाने क्या हुआ जिस मिलन की इतनी प्रतीक्षा थी वह मिलन एक बहुत बड़ा जोखिम है, जाने यह बिजली बिजली भी रह पायेगी या नहीं, कहीं यह भी उस रसगर्भ मेघ में बिलाकर केवल रस-बिन्दु तो नहीं बन जाएगी—<sup>1</sup>

पहिले दधि लै गई गोकुल में चख चारि भए नट नागर पै ।  
रसखान करी उन चातुरता कहैं दान दै दान, अरे अरपै ।।  
नख साँ सिख लौं पट नील लपेटे, लली सब भांति कंपे डरपै ।  
जनु दामिनी सावन के धन तैं, निकसै नहीं भीतर ही तरपे ।।

इन सबसे तेज लहर है उस कारे की, जिसे उद्धव उतारना चाहते हैं राख से, जिसे बड़े-बड़े गारूड़ी नहीं उतार पाए, उसे जोग का भभूत लगाने वाला यह नादान आदमी उतारने आया है—

कारे विसारे को चाहे उतार्यौ अरी विष बावरो जे राख लगाइ कै ।।

उद्धव नहीं जानते कि यह लहर ही जीवन की चरम सार्थकता है। वही प्राण प्राण है जो उस पर रीझते हैं, वही रूप रूप है है जिस पर वह रीझता है, वही सीस सीस है जो उनके चरण का स्पर्श करता है, वही देह देह है जिसको वे स्पर्श करते हैं, वही दूध दूध है जो उनसे दुहवाया गया है, वही दही दही है जिसे उन्होंने ढरकाया है, वही स्वभाव अपना स्वभाव है जो उनके मन भाया<sup>2</sup> है—

प्राण वही जु रहैं रिझ वा पर रूप वहीं जिहि वाहि रिझायो ।  
सीस वही जिहिं वे परसे पग देह वही जिन ता परसायो ।  
दूध वही जो दुहायो री वाही ने सोई दही जु वही ढरकायो ।  
और कहां लौं कहुं रसखान सुभाव वही जु वही मन भायो ।।

रसखान की कविता निरन्तर एक दृश्य देखती रहती है और यह दृश्य कभी पुराना नहीं पड़ता। श्रीकृष्ण के केश गोरज में सने हैं, छाती में वनमाला लहलहाती हुई, पीछे ग्वालबाल, जितनी वंशी की मधुर ध्वनि उतनी ही मधुर बांकी आंखों की चितवन और उतीन मधुर मन्द—मन्द मुसकान, इस धजा के साथ श्रीकृष्ण गांव के कदम्ब के वृक्ष के पास आ गए। ऊपर अटारी पर चढ़कर देखो, पीताम्बर फहरा रहा है, सघन श्यामलता को रेखांकित करता हुआ पीताम्बर फहरा रहा है और रस बरसाने वाला, तन की तपन बुझाने वाला, नैन और प्राणों को रिझाने वाला रसखान आ रहा है—

गोरज विराजै भाल लहलही वनमाल  
आगे गैयां पाछें ग्वाल गावें मृदुतान री।  
जैसी धुनि मधुर मधुर बांसुरी री॥  
कदम विटप के निकट तनी के तट  
अटा चढ़ि दिखि पीत पट फहरान री।  
रस बरसावै तन तपन बुझावै।  
नैन प्राननि रिझावै वह आवै रसखानि री॥<sup>1</sup>

रसखान की कविता निरन्तर रसखान के आने की उत्सुकता है, इसीलिए रसखान की काव्य—यात्रा एक अन्तहीन काव्य—यात्रा है। उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि रसखान का काव्य रस भरा हुआ है। रूपात्मक जगत हृदय का प्रकाश बन जाता है। गोपियों के भीतर कृष्ण का प्रेम प्रकाश बन गया है। जब हृदय में प्रभु का प्रकाश समा जाता है तब संसार की सांसारिकता आंखों से ओझल हो जाती है। रसखान भक्त हैं तथा भक्ति पारसमणि है। इसे छूते ही समस्त वासनाएं सोना बन जाती हैं चाहे कृष्ण का पारस रूप हो अथवा पदमावती का कोई भी उसके समझ नतमस्तक हो जाता है। रसखान के कृष्ण श्रृंगारिक ही नहीं अलौकिक भी है। प्रेम जगता है अपूर्व

सौन्दर्य से तब वह दिव्य प्रकाश बन जाता है। वह प्रेम जिसके पाने के बाद स्वर्ग की इच्छा समाप्त हो जाती है रसखान के हृदय का प्रेम जिस रसमय काव्य की प्रस्तुति करता है उसके अनुशीलन के बाद आलोचक भी मौन हो जाता है उनके काव्य में कल्पना एवं भाव का ऐसा आलोक है जहां आलोचक की बृद्धि चौंधिया जाती है। जैसा कि डॉ० विद्यानिवास, सम्पादित रचनावली में देखने को मिलता है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी रसखान के प्रेम की प्रशंसा करते हैं। रसखान के काव्य की दो उपलब्धियां हैं— 1. सार्वकालिक 2. तत्कालिक। पहले में सौन्दर्य निरूपण का ऐसा वैभव है जो लौकिक और अलौकिक दोनों विचारा धाराओं के लोगों को समान रूप से आकर्षित करता है तथा सदा आकर्षित करता रहेगा यह भारतीय संस्कृति का चिराग है जिसे कोई तूफान भी बुझा सकता तत्कालीन परिस्थितियों में उनका सौन्दर्य प्रेम निरूपण मानवता का उदान्त शिखर है जहां से अनेक स्रोतस्त्रिनिया प्रवाहित होती है।



## अध्याय-4

### संदर्भ-ग्रन्थ :-

क्रमांक

- पृष्ठ – 158. चन्द्रालोक 1/8, आचार्य जयदेव ।  
162. ध्वन्यालोक 1/4 – आनन्दवर्धन ।  
164. औचित्य विचार चर्चा, कारिका-7 – आचार्य क्षेमेन्द्र ।  
164. औचित्य विचार चर्चा, कारिका-3 – आचार्य क्षेमेन्द्र ।  
166. वाल्मीकि : रामायण : बालकाण्ड ।  
166. तुलसीदास : रामचरितमानस : बालकाण्ड ।  
166. जयशंकर प्रसाद : कामायनी : श्रद्धासर्ग ।  
167. आचार्य विश्वनाथ : साहित्य दर्पण ।  
169. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत्र : शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त,  
पृ० 211 ।  
172. डॉ० बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 85 ।  
172. बाणभट्ट : कादम्बरी कथा प्रशंसा (चौखम्बा सुर भारती प्रकाशन) पृ०5  
174. सुजान रसखान सवैया – 5 ।  
174. सुजान रसखान सवैया – 26 ।  
174. अभिव्यक्ति सौंदर्य के निदर्शन ।  
175. सुजान रसखान सवैया – 216 ।  
176. सुजान रसखान सवैया – 184 ।  
177. सुजान रसखान सवैया – 99 ।  
177. रसखान : प्रेमवाटिका : दोहा – 48-49 ।  
178. सुजान रसखान कवित्त – 52 ।  
179. सुजान रसखान सवैया – 197 ।  
180. सुजान रसखान कवित्त – 59 ।  
180. सुजान रसखान कवित्त – 182 ।  
181. सुजान रसखान कवित्त – 180 ।  
182. सुजान रसखान सवैया – 39 ।  
182. सुजान रसखान सवैया – 22 ।  
182. सुजान रसखान सवैया – 22 ।  
183. सुजान रसखान सवैया – 29 ।  
184. सुजान रसखान सवैया – 151 ।  
184. सुजान रसखान सवैया – 109 ।  
185. सुजान रसखान सवैया – 64 ।